वैष्णव-सिद्धान्त-माला

लेखक
श्रील ठाकुर भक्तिविनोद

अनुवादक एवं सम्पादक
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

श्रीगौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

卐 श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः 卐

वैष्णव-सिद्धान्त-माला

ॐविष्णुपाद
श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर विरचित

श्रीकृष्णचैतन्यदशमाधस्तनान्वयवर श्रीगौड़ीयाचार्य-केशरी
ॐविष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
अनुदित एवं सम्पादित

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

प्रकाशक—
श्रीपाद पुरन्दर ब्रह्मचारी
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)

पंचम संस्करण—
१२ मई २००६
श्रीनृसिंह चतुर्दशी

प्राप्ति स्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीखण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३१०१

प्रस्तावना

आचार्य-केशरी जगद्गुरु मदीय परमाराध्य ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणकी मनोऽभीष्ट सेवास्वरूप, भुवन-मङ्गलावतार ॐविष्णुपाद श्रील ठाकुर भक्तिविनोदकृत बंगला-भाषामें लिखित "वैष्णव-सिद्धान्त-माला" नामक प्रबन्धका हिन्दी-संकरण श्रद्धालु पाठकोंके निकट उपस्थित करते हुए अपार आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। श्रील ठाकुर भक्तिविनोद कलियुगपावनावतारी श्रीशचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकरोंमें से अन्यतम हैं। षड्गोस्वामियों, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर और श्रीबलदेव विद्याभूषण आदि श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्यके पश्चात् श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित-प्रचारित विमल वैष्णव धर्म तथा उनके सत्सिद्धान्त जब लुप्तप्रायः हो गये, उस समय श्रीगौरसुन्दरके प्रिय परिकर श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने जगतीतलमें आविर्भूत होकर संस्कृत, बंगला, हिन्दी, उड़ीया और अंग्रेजी भाषाओंमें सैकड़ों ग्रन्थोंकी रचनाकर श्रीगौड़ीय-वैष्णव-साहित्य-भंडारको जिस प्रकरसे सुसमृद्ध किया है, उससे ये श्रीगौड़ीय-वैष्णव-जगतमें सप्तम गोस्वामीके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सिद्धान्त सागरसे श्रीदशमूल तत्त्वका नव आविष्कार करके वैष्णव-जगतका अपार कल्याण किया है। यह दशमूल तत्त्व अनादि भव-व्याधिकी अव्यर्थ औषधि तथा पथ्य स्वरूप है। इसमें

चिद्‌वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वात्मक श्रीमन्महाप्रभुके सारे मूल सिद्धान्तोंका मालाके रूपमें ग्रन्थन किया है। श्रीगौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीब्रह्म-सूत्रके गोविन्द-भाष्यकी रचना करते समय पूर्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्यके प्रतिपाद्य दर्शनका सारमर्म प्रमेय रत्नावली ग्रन्थमें संक्षेपमें लिपिबद्ध किया है। उसमें स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रदर्शित नौ प्रमेय-तत्त्वका सन्धान पया जाता है।

श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतममखिलाम्नायवेद्यञ्च विश्वं
सत्यं भेदञ्च जीवान् हरिचरणजुषस्तारतम्यञ्च तेषाम्।
मोक्षं विष्णवन्घ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणं
प्रत्यक्षादित्रयञ्चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि (१) विष्णु ही परम तत्त्व हैं, (२) वे ही निखिल वेदोंके परम प्रतिपाद्य तत्त्व हैं, (३) विश्व सत्य है, (४) जीव विष्णुसे भिन्न है, (५) जीव भगवान्‌के नित्य दास हैं, (६) जीवोंमें बद्ध और मुक्तावस्थाके भेदसे तारतम्य है, (७) भगवत्प्राप्तिका नाम ही मोक्ष है, (८) भगवान्‌का भजन शुद्धा-भक्ति ही मोक्ष प्राप्तिका कारण है, और (९) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (वेद)—ये तीन प्रमाण हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यके इन नौ प्रमेय तत्त्वोंका ही श्रीचैतनमहाप्रभुने उपदेश किया है।

श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने “वैष्णव-सिद्धान्त-माला” नामक इस पुस्तिकामें उक्त नौ प्रकारके प्रमेय तत्त्वोंका सरल, सहज तथा बोधगम्य भाषामें संक्षेपमें विवेचन किया है। साथ ही

उन्होंने दूसरे प्रबन्धमें शुद्ध हरिनाम, नामाभास और नामापराधके सम्बन्धमें अत्यन्त हृदयग्राही तथा सुसिद्धान्तपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, जो भक्ति-साधकोंके लिए परम उपादेय तथ्य है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तिका श्रद्धालु पाठकोंको विशेषतः शुद्धा-भक्ति-साधकोंके लिए कण्ठहार-स्वरूप होगी।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)

श्रीश्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु—
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

वैष्णव-सिद्धान्त-माला

नौ-प्रमेय-सिद्धान्त

पहला अध्याय

प्रश्न—परमाराध्य श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हमें क्या आज्ञा दी है?

उत्तर—उनकी आज्ञा यह है कि श्रीमन्मध्वाचार्यने हम लोगोंको गुरु-परम्पराके माध्यमसे प्राप्त जिन नौ प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है—हमें उनका विशेष सावधानीके साथ पालन करना चाहिए।

प्रश्न—गुरु-परम्परा किसे कहते हैं?

उत्तर—समस्त गुरुओंके आदि गुरु हैं—भगवान्। उन्होंने कृपा करके आदि कवि श्रीब्रह्माजीको भगवत्-तत्त्वका उपदेश किया श्रीब्रह्मासे श्रीनारद, नारदसे श्रीव्यास और व्याससे श्रीमध्वाचार्यको क्रमशः उस तत्त्वकी शिक्षा मिली थी। इस प्रकार गुरु-शिष्यके क्रमानुसार जो उपदेश प्राप्त है, उसीका नाम है गुरु-परम्परा प्राप्त उपदेश।

प्रश्न—श्रीमध्वाचार्यने जिन नौ तत्त्वोंके उपदेश दिये हैं, वे क्या हैं?

उत्तर—ये नौ तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) भगवान् ही एकमात्र परम तत्त्व हैं।

(२) वे ही निखिल वेदोंके परम प्रतिपाद्य विषय हैं।

(३) विश्व—सत्य है।

(४) भेद—सत्य है। भगवान् और जीवमें, जीव और जीवमें, जीव और जड़में, जड़ और जड़में, जड़ और भगवान्में ये पाँच प्रकारके भेद हैं।

(५) जीव—भगवान्के नित्यदास हैं।

(६) जीवोंमें मुक्त और बद्ध आदि अवस्था भेदसे तारतम्य है।

(७) भगवत्प्राप्तिका नाम ही मोक्ष है।

(८) भगवान्का भजन—भक्ति ही मोक्ष-प्राप्तिका कारण है।

(९) 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'शब्द'—ये तीन प्रमाण हैं।

दूसरा अध्याय

भगवान् ही एकमात्र परम तत्त्व हैं

प्र०—भगवान् कौन हैं?

उ०—जो अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा जीव और जड़की सृष्टि करके उनमें ईश्वर-स्वरूपसे अनुप्रविष्ट हैं, तथा जो ब्रह्मरूपमें उन सबसे ऊपर चिन्तासे अतीत तत्त्व हैं और जो पराशक्ति द्वारा प्रकाशित सच्चिदानन्द स्वरूपमें जीवोंकी भक्ति वृत्तिके विषयीभूत हैं—उनका नाम भगवान् है।

प्र०—भगवान्की शक्ति कैसी होती है?

उ॰—हम लोग भगवान्‌की शक्तिका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान्‌की शक्ति असीम है, किन्तु हम लोग ससीम हैं। इसीलिए उनकी शक्तिको पराशक्ति कहा गया है। हमारे लिए जो अत्यन्त असम्भव है, भगवान्‌की शक्तिके लिए वह अनायास ही सम्भव है। उस अघटन-घटन-पटीयसी शक्तिके द्वारा समस्त विपरीत धर्म भी एक ही साथ एक ही समयमें प्रकाशित होते हैं।

प्र॰—क्या भगवान् शक्तिके अधीन हैं?

उ॰—भगवान् एक पृथक् वस्तु हैं तथा शक्ति उनसे पृथक् एक दूसरी वस्तु है—ऐसी बात नहीं है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न होता है, उसी प्रकार भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌से अभिन्न होती है।

प्र॰—यदि भगवान् ही एकमात्र परम-तत्त्व हैं, तो श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीकृष्ण-शक्तिका उपदेश क्यों किया है?

उ॰—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री (रूप), ज्ञान और वैराग्य—ये भगवान्‌के नित्य गुण हैं। इनमें से किसी गुणके अधिक प्रकाश और किसी गुणके अल्प प्रकाशके अनुसार भगवत्-स्वरूपका प्रकाश भेद होता है। जहाँ पर जिस स्वरूपमें ऐश्वर्य भाव प्रबल रूपसे प्रकाशित होता है—उस स्वरूपको 'परव्योमनाथ नारायण' कहा जाता है और जिस स्वरूपमें माधुर्य भाव प्रधान होता है, उस स्वरूपको 'वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण' कहा जाता है। अतएव श्रीकृष्ण ही भगवत्-तत्त्वके सर्वोत्तम प्रकाश हैं।

प्र॰—भगवान्‌के स्वरूप कितने हैं?

उ॰—केवल एक ही है। वह चिन्मय, परम सुन्दर, परमानन्दमय, सर्वाकर्षक, लीलामय और विशुद्ध प्रेमगम्य होता है। जीवोंके स्वभाव-भेदसे उस एक ही नित्य स्वरूपके अनन्त प्रकारके प्रकाश-भेद हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले जीव उन प्रकाश-भेदोंको पृथक्-पृथक् एक-एक स्वरूप मान लेते हैं। श्रीकृष्ण-स्वरूप ही नित्यानन्द स्वरूप हैं।

प्र॰—श्रीकृष्ण-लीला क्या है?

उ॰—चित् जगतके परम रमणीय विभागका नाम श्रीवृन्दावन है, वहाँ पर सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण नित्यलीलाके सम्पादकरूप श्रीश्रीराधाकृष्ण-युगल स्वरूपमें नित्य विराजमान हैं। जीवका आनन्द-स्वरूप प्रकाशित होने पर वह अप्राकृत वृन्दावनमें परमानन्द स्वरूपिणी श्रीमती राधिकाजीकी सहचरीके रूपमें नित्य कृष्ण-लीलामें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करता है। उस लीलामें भय और मृत्युका कोई स्थान नहीं है। अजस्र चिदानन्द ही उस लीलाका एकमात्र उपकरण है।

प्र॰—कृष्ण-लीलाकी प्राप्तिमें क्या-क्या बाधाएँ हैं?

उ॰—दो बाधाएँ हैं—जड़बुद्धि और जड़चिन्तातीत निर्विशेष-बुद्धि।

प्र॰—जड़ बुद्धिका तात्पर्य क्या है?

उ॰—जड़ीय देश, जड़ीय काल, जड़ीय द्रव्य, जड़ीय आशा, जड़ीय चिन्ता और जड़ीय कर्म—ये सब अपने-अपने प्रभावसे जिस बुद्धिको संकुचित किये होते हैं, उसे जड़ बुद्धि कहते हैं। जड़ बुद्धिसे अप्राकृत श्रीवृन्दावन धाम—जड़ भूमि जैसा दिखलाई पड़ता है, काल—भूत, भविष्य और वर्त्तमान—तीन

भागोंमें विभक्त दीखता है, नश्वर द्रव्य ही एकमात्र द्रव्य प्रतीत होते हैं? जड़-बुद्धि स्वर्ग आदि अनित्य सुखोंकी ही आशा करती है, वह जड़ चिन्ताके अतिरिक्त कोई दूसरी (अप्राकृत) चिन्ता नहीं कर सकती; सभ्यता, नीति, शिल्प, विज्ञान और सांसारिक उन्नति आदि नश्वर कर्मोंको ही 'कर्त्तव्य' मानती है।

प्र०—निर्विशेषबुद्धि किसे कहते हैं?

उ०—जिस धर्मके द्वारा जड़ जगतके सारे द्रव्य परस्पर पृथक्-पृथक् हैं—उस धर्मको 'विशेष' कहते हैं। जड़ चिन्ताको त्याग करनेके साथ-साथ जो उक्त विशेषका भी परित्याग करते हैं, उनकी बुद्धि निर्विशेष हो जाती है। ऐसे लोग वस्तु-भेद नहीं देखे पाते हैं, अन्तमें वे अपनेको निर्वाण प्राप्त अथवा ब्रह्ममें लय प्राप्त हुआ समझते हैं। उस अवस्थामें आनन्द नहीं होता। चित्-सुखका अभाव होनेसे प्रेमका भी लोप हो जाता है। कृष्ण-लीला जड़ातीत होने पर भी निर्विशेष नहीं—बल्कि सविशेष होती है।

प्र०—यदि कृष्ण-लीला जड़से अतीत है, तब द्वापरके अन्तमें वह कैसे दिखाई दी?

उ०—कृष्ण-लीला जड़ इन्द्रियोंसे अगोचर है। किन्तु श्रीकृष्णकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे जड़ातीत लीला जड़ जगतमें प्रकट होती है। जड़ जगतमें प्रकट होने पर भी वह जड़मिश्र अथवा जड़ धर्मके अन्तर्गत नहीं होती। प्रकट और अप्रकट—दोनों ही अवस्थाओंमें कृष्ण-लीला सर्वदा विशुद्ध चिन्मय होती है। श्रीकृष्ण-लीला—शुद्ध वैकुण्ठगत श्रीवृन्दावनकी

लीला है। ऐसा होने पर भी कृष्णकी अचिन्त्य शक्ति और अपार करुणासे वह प्रपंचमें अथवा जीवोंके विशुद्ध हृदयमें आविर्भूत होती है। किन्तु संसारमें प्रकटित होने पर जड़ बुद्धिवाले मनुष्य उस पूर्ण चिन्मयी कृष्ण-लीलाका यथार्थ रूपमें दर्शन नहीं कर पाते, बल्कि उसे एक जड़ीय कार्य-विशेष समझकर तर्क और युक्तिके आधार पर समझनेका प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि वे वञ्चित होते हैं तथा उसमें अनेकों दोष देखते हैं। जो व्यक्ति जगाई-मधाईकी तरह जड़-बुद्धिसे छुटकारा पा लेते हैं, वे इस तत्त्वको यथार्थ रूपमें—सर्वथा निर्दोष जानकर उसमें अनुरक्त हो पड़ते हैं। श्रीकृष्ण-तत्त्वको समझे बिना रसकी प्राप्ति नहीं होती।

प्र॰—श्रीकृष्ण-तत्त्वका उपदेश तो एकमात्र वैष्णव-धर्ममें ही पाया जाता है, फिर दूसरे धर्मवालोंकी गति क्या होगी?

उ॰—दूसरे धर्मोंमें जो ईश्वर, परमात्मा और ब्रह्मकी उपासनाएँ होती हैं, वे सब कृष्ण-तत्त्वको उद्देश्य करती हैं। जीव क्रमशः उन्नति करते-करते अन्तमें कृष्ण-भक्ति प्राप्त करता है। खण्ड-धर्म-समूह सम्पूर्णताको प्राप्त होने पर अन्तमें श्रीकृष्ण भक्ति हो पड़ते हैं। श्रीकृष्ण-तत्त्वमें पारंगत बुद्धि ही जीवका परम ज्ञान है।

तीसरा अध्याय

वे अखिल वेद-वेद्य हैं

प्र॰—भगवत्-तत्त्व कैसे जाना जा सकता है?

उ॰—जीवके स्वतःसिद्ध ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है।

प्र॰—स्वतः सिद्ध ज्ञान किसे कहते हैं?

उ॰—ज्ञान दो प्रकारका होता है—स्वतःसिद्ध ज्ञान और इन्द्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान। स्वतःसिद्ध ज्ञान विशुद्ध चैतन्य स्वरूप जीवका सत्तागत तत्त्व है, जो समस्त चिद्‌वस्तुओंकी तरह नित्य होता है, उसीको वेद अथवा आम्नाय कहते हैं। बद्ध जीवके साथ वही सिद्ध-ज्ञान अर्थात् वेद—ऋक्, साम्, यजुः, और अथर्वके रूपमें आविर्भूत हुआ है। इन्हींको स्वतः सिद्ध ज्ञान कहते हैं। साधारण लोग अपनी इन्द्रियोंकी सहायतासे जो भिन्न-भिन्न विषयोंका ज्ञान संग्रह करते हैं, उसे 'इन्द्रिय-परतन्त्र ज्ञान' कहते हैं।

प्र॰—इन्द्रिय-परतन्त्र ज्ञानसे भगवत्-तत्त्वको जाना जा सकता है या नहीं?

उ॰—नहीं। भगवान् समस्त जड़ेन्द्रियोंसे अतीत होते हैं। इसीलिए उनको अधोक्षज कहा जाता है। इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय पुष्ट मनोगत युक्तियाँ भगवत्-तत्त्वसे अत्यन्त दूर रहती हैं।

प्र॰—भगवान् यदि स्वतःसिद्ध ज्ञानसे ही पाये जाते हैं, तब तो हमारे अन्दर जो स्वतःसिद्ध ज्ञान है, उसीसे हमें भगवत् प्राप्ति हो जायेगी। फिर वेद-शास्त्र अध्ययन करनेकी आवश्यकता ही क्या है?

उ॰—स्वतःसिद्ध ज्ञानरूप वेद समस्त जीवोंकी शुद्ध-सत्तामें वर्त्तमान है—यह ठीक है, किन्तु बद्ध सत्ताके तारतम्यानुसार वह वेद किसीके अन्दर स्वयं प्रकाशित है और किसी-किसीके

अन्दर आच्छादित रूपमें वर्त्तमान है। स्वतःसिद्ध ज्ञानको प्रकाशित करनेके लिए लिपिबद्ध वेद-समूह अवतीर्ण हुए हैं।

प्र०—सुना है कि भगवान् भक्ति-ग्राह्य हैं, यदि यह ठीक है, तो उनको ज्ञान-ग्राह्य कैसे कह सकते हैं?

उ०—स्वतः सिद्ध ज्ञानका नाम ही भक्ति है—भक्ति और स्वतःसिद्ध ज्ञान पृथक् नहीं है। परतत्त्वके सम्वेदन (अनुभव)को कोई 'ज्ञान' कहते हैं, कोई 'भक्ति' कहते हैं।

प्र०—तब भक्ति-शास्त्रोंमें ज्ञानको इतना हेय क्यों माना गया है?

उ०—भक्तिशास्त्रोंमें स्वतःसिद्ध ज्ञानको अत्यधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि स्वतःसिद्ध ज्ञानके अतिरिक्त जीवके अकल्याणका कोई दूसरा उपाय नहीं हैं। केवल इन्द्रिय-परतन्त्र ज्ञान और निर्विशष ज्ञानसे जीवका यथार्थ श्रेयः नहीं होता। इसलिए इन दोनोंका तिरस्कार लक्ष्य किया जाता है।

प्र०—वेदादि निखिल शास्त्रोंमें कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंका उल्लेख है। इनमेंसे किसके द्वारा भगवत्-तत्त्व जाना जाता है?

उ०—सम्पूर्ण वेद-वाणियोंका समन्वय करने पर यह स्पष्टरूपसे दिखलाई पड़ेगा कि भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी जानने योग्य नहीं है। वैदिक कर्म-समूह भी अन्तमें भगवान्को ही लक्ष्य करते हैं। ज्ञान भी परिशुद्ध अवस्थामें विषय और निर्विशेष—उभयात्मक द्वन्द्वको छोड़कर अन्तमें भगवान्को ही लक्ष्य करता है। भक्ति स्वभावतः भगवान्का अनुशीलन करती है। अतएव भगवान् ही अखिल वेदवेद्य हैं।

चौथा अध्याय

विश्व-सत्य है

प्र॰—कोई-कोई कहते हैं—यह जगत मिथ्या है और केवल माया-निर्मित है। इसमें यथार्थ बात क्या है?

उ॰—यह जगत सत्य है, किन्तु नश्वर है। सत्य और नित्य—इन दोनों विशेषणोंके अर्थ अलग-अलग हैं, जगत नित्य नहीं है अर्थात् ईश्वरकी इच्छासे वह कभी नष्ट हो सकता है। जगत वास्तवमें है—मिथ्या नहीं है। शास्त्रमें कहीं-कहीं जगतको मिथ्या कहा गया है, किन्तु वहाँ पर 'मिथ्या' शब्दका तात्पर्य 'नश्वर'से है।

प्र॰—माया क्या है?

उ॰—भगवान्की एकमात्र पराशक्तिके अनन्त प्रकारके विक्रमोंमें से हमारे निकट तीन विक्रमोंका परिचय पाया जाता है। वे तीन विक्रम हैं—(१) चिद्-विक्रम, (२) जीव-विक्रम और (३) माया विक्रम। चिद्-विक्रमसे भगवत्-तत्त्वका प्रकाश और उसकी स्फूर्ति होती है। जीव-विक्रमसे अणुचैतन्य स्वरूप अनन्त जीव प्रकटित हुए हैं और माया-विक्रमसे जो कुछ उत्पन्न होता है, नश्वर होता है। किन्तु जब पैदा हुआ है, तब वह सब कुछ सत्य है।

पाँचवा अध्याय

भेद-सत्य है

प्र॰—जीव और भगवान्—जब दोनों ही चैतन्यपद वाच्य हैं, तब उनका भेद क्या काल्पनिक है?

उ॰—नहीं। भगवान् विभु-चैतन्य हैं, और जीव अणुचैतन्य हैं। उनका परस्पर जो भेद है, वह काल्पनिक नहीं वास्तविक है। भगवान् अपनी माया शक्तिके ईश्वर हैं, जीव मायाके अधीन हैं।

प्र॰—भेद कितने प्रकारके हैं?

उ॰—दो प्रकारके—व्यवहारिक और तात्विक।

प्र॰—व्यवहारिक भेद कैसा होता है?

उ॰—घट और पटमें व्यवहारिक भेद है। परन्तु दोनोंका कारण मिट्टी है, इस अवस्थामें दोनोंमें भेद नहीं है। इस भेदका नाम व्यवहारिक भेद है।

प्र॰—तात्त्विक भेद किसे कहते हैं?

उ॰—जब दो पदार्थोंमें परस्पर कार्य और कारण दोनों ही अवस्थाओंमें भेद होता है, तब भेदको तात्विक भेद कहते हैं।

प्र॰—जीव और ईश्वरका भेद व्यवहारिक होता है अथवा तात्त्विक?

उ॰—तात्त्विक।

प्र॰—कैसे?

उ॰—जीव किसी भी अवस्थामें भगवान् नहीं हो सकता है।

प्र॰—तब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका अर्थ क्या होगा?

उ॰—इसके द्वारा श्वेतकेतुको उपदेश दिया गया है कि तुम जीव हो, तुम जड़ जातीय वस्तु नहीं—बल्कि चैतन्य

जातीय वस्तु हो। उपरोक्त 'तत्त्वमसि'से जीवको विभु-चैतन्य (ईश्वर) मानना भूल है।

प्र॰—तो जीव और ब्रह्म सम्बधी अभेदसूचक वाक्योंका व्यवहार क्या अनुचित है?

उ॰—जीवकी दृष्टिसे विचार करने पर भेद नित्य है, किन्तु ब्रह्मकी दृष्टिसे अभेद नित्य है। अतएव भेद और अभेद दोनों एक ही समय नित्य और सत्य हैं।

प्र॰—इस प्रकारका परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है?

उ॰—भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे समस्त विरुद्ध तत्त्वोंका सामञ्जस्य सम्भव होता है। अल्प बुद्धिवाले जीव ऐसा होना असम्भव मानते हैं।

प्र॰—फिर अभेदवादका तिरस्कार क्यों सुना जाता है?

उ॰—अभेदवादी केवल अभेदको ही नित्य मानते हैं—भेदको वे अनित्य मानते हैं। श्रीमध्वाचार्यने भेदको नित्य प्रमाणित किया है। अतः अचिन्त्यभेदाभेदमें कोई दोष नहीं है, दोष है—केवल भेदवादी अथवा केवल अभेदवादीमें। क्योंकि इनमें से एक भेदवादका पक्ष लेकर अभेदको अस्वीकार करता है और दूसरा अभेदवादका पक्ष लेकर भेदको नित्य नहीं मनता।

प्र॰—केवल अभेदवाद किसका मत है?

उ॰—निर्विशेषवादी ही केवल अभेद मानते हैं। सविशेषवादी केवल-अभेदको स्वीकार नहीं करते।

प्र॰—सविशेषवाद किसका मत है?

उ॰—सविशेषवाद सभी वैष्णव-सम्प्रदायोंका मत है।

प्र॰—वैष्णव सम्प्रदाय कितने हैं?

उ॰—चार हैं। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत।

प्र॰—इनके मतोंमें परस्पर क्या भेद है?

उ॰—इनमें कोई वास्तव भेद नहीं है। ये सभी सविशेषवादी हैं—केवल अभेदवादको स्वीकार नहीं करते। ये सभी भगवत् परायण हैं तथा भगवत् शक्ति स्वीकार करते हैं। द्वैतवादमें भेदकी नित्यता दिखलायी गयी है। इनके मतसे केवलाद्वैतवाद नितान्त अन्ध मत है। यह मत मध्वाचार्यका है। विशिष्टाद्वैतवादीका कहना है—विशेष वस्तु विशेषणसे युक्त है, अतएव वे केवलाद्वैत नहीं हैं। यह मत रामानुजाचार्यका है। द्वैताद्वैत मतने केवलाद्वैतवादका अत्यधिक स्पष्टरूपमें खण्डन किया है। यह मत निम्बादित्य आचार्यका है। शुद्धाद्वैत मतने भी केवलाद्वैतका तिरस्कार करके तत्त्व-वस्तुको शुद्ध विशेषणसे युक्त बतलाकर अपने मतको प्रामाण्य ठहराया है। भलीभाँति विचार करने पर उक्त चारों मतोंमें कोई भेद नहीं दिखाई देता है।

प्र॰—तब श्रीचैतन्यमहाप्रभुने केवल मध्व मतको ही क्यों ग्रहण किया?

उ॰—मध्व मतका विशेष गुण यह है कि इसमें केवल अद्वैतवादरूप भ्रमका सबसे अधिक स्पष्ट खण्डन है। इस मतका आश्रय करनेसे अभेदवादरूप पीड़ा बहुत ही दूर रहती है। दुर्बल मनुष्योंके निश्चित मङ्गलके लिए ही श्रीमहाप्रभुने इस मतको ग्रहण किया था। किन्तु इससे अन्य तीनों मतोंको किसी प्रकारसे लघु अथवा हेय नहीं समझना चाहिए।

सविशेषवाद जिस किसी भी मतमें, चाहे किसी भी रूपमें क्यों न पाया जाय, इससे जीवका नित्य-कल्याण अवश्य ही साधित होता है।

छठा अध्याय

जीव-श्रीहरिका दास है

प्र॰—जीवका नित्य धर्म क्या है?

उ॰—कृष्णदास्य ही जीवका नित्य धर्म है।

प्र॰—जीवका विधर्म क्या है?

उ॰—अभेदवाद स्वीकार कर निर्वाणका अनुसन्धान करना अथवा जड़गत सुख या सामर्थ्यका अन्वेषण करना ही जीवका विधर्म है।

प्र॰—इन्हें विधर्म क्यों कहा जाता है?

उ॰—जीव चिन्मय है, चिन्मय वस्तुमात्रका धर्म है—आनन्द या प्रीति। निर्विशेषवादमें आनन्द नहीं है। केवल चरम विनाश ही निर्विशेषवादका मूल प्रयोजन है। जड़ीय विशेषवादमें जीवके चिद्-धर्मगत विशेषकी हानि होती है। निर्विशेषवाद और जड़वाद—दोनों ही जीवके विधर्म हैं।

प्र॰—जड़ीय सुखका अन्वेषण कौन करते हैं?

उ॰—इन्द्रिय-सुखोंमें आसक्त (कर्म-जड़) पुरुष ही कर्ममार्ग द्वारा स्वर्ग आदि जड़ीय सुखोंका अन्वेषण करते हैं।

प्र॰—जड़ीय सामर्थ्यका अनुसन्धान कौन करते हैं?

उ॰—अष्टाङ्ग-योग-मार्गसे सिद्ध हुए योगीजन तथा षड़ङ्ग-योगीजन—ये दोनों ही विभूतिके प्रभावसे जड़-सामर्थ्यका अनुसन्धान करते हैं।

प्र॰—जड़ जगतका सुख या निर्वाण तुच्छ होने पर जीवका बचा ही क्या रहता है?

उ॰—जीवका निजस्व सुख बच रहता है। पूर्व कथित दोनों प्रकारके सुख ही सोपाधिक हैं, निज-सुखानुभूति ही निरुपाधिक है।

प्र॰—निज-सुखानुभूति किसे कहते हैं?

उ॰—जड़ सम्बन्धरहित जीवका शुद्ध चैतन्यगत कृष्णानुशीलन रूप सुख ही निज-सुख है।

सातवाँ अध्याय

जीवका तारतम्य

प्र॰—सब जीव क्या एक ही प्रकारके हैं? अथवा उनमें कोई तारतम्य है?

उ॰—तारतम्य है।

प्र॰—कितने प्रकारके तारतम्य हैं?

उ॰—दो प्रकारके हैं—स्वरूपगत तारतम्य और उपाधिगत तारतम्य।

प्र॰—जीवकी उपाधि क्या है?

उ॰—कृष्ण-विमुखताके कारण माया जीव-स्वरूपको ढक लेती है। यह माया ही जीवकी उपाधि है।

प्र॰—सभी जीव निरुपाधिक क्यों नहीं हुए?

उ॰—जिन्होंने भगवद्दास्यके अतिरिक्त कुछ भी अङ्गीकार नहीं किया, वे अपने स्वरूपगत निरुपाधिकत्वका परित्याग नहीं करते, उनका कृष्ण-सान्मुख्य नित्य है और जिन्होंने

विषय भोगोंको स्वार्थ मानकर कृष्ण-विमुखता स्वीकार की, वे माया निर्मित इस विश्व-कारागारमें बन्द हो गये।

प्र॰—कृष्ण तो सब कुछ कर सकते हैं, यदि वे उस प्रकारकी दुर्बुद्धिसे जीवकी रक्षा कर देते, तो अच्छा था, उन्होंने वैसा क्यों नहीं किया?

उ॰—इस विषयमें यदि जीवको स्वतन्त्रता नहीं रहती तो जीवका स्वरूप एक प्रकारसे जड़ वस्तुके समान होता; उससे चिद्-वस्तुका जो स्वतन्त्रानन्द है, उसे प्राप्त नहीं करता।

प्र॰—जीवका स्वरूप क्या है?

उ॰—जीव चिद्-वस्तु है और आनन्द ही उसका धर्म है।

प्र॰—स्वरूपगत तारतम्य कितने प्रकारके हैं?

उ॰—पाँच प्रकारके हैं। चिद् जगतमें पाँच प्रकारके नित्य रस हैं। उन-उन रसोंमें स्थित जीवोंमें स्वरूपगत तारतम्य है।

प्र॰—पाँच प्रकारके रस कौन-कौन हैं?

उ॰—पाँच प्रकारके रस ये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार।

प्र॰—इन पाँचोंकी पृथक्-पृथक् रूपमें व्याख्या करें।

उ॰—(१) कृष्णके प्रति सम्बधरहित अनुरक्तिका नाम—शान्त रति है। (२) कृष्णके प्रति सम्बधयुक्त किन्तु सम्भ्रमयुक्त अनुरक्तिका नाम—दास्य है। (३) सम्बधयुक्त, सम्भ्रमहीन, अथच विश्रम्भयुक्त कृष्णानुरक्तिका नाम—सख्य रति है। (४) सम्बधयुक्त, स्नेहपूर्ण कृष्णानुरक्तिका नाम—वात्सल्य रति है। (५) सौन्दर्ययुक्त रागमयी अवस्थाको प्राप्त रतिका नाम शृङ्गार रति है।

प्र॰—रति और रसमें क्या अन्तर है?

उ॰—विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी इन चार सामग्रियोंके साथ मिलकर जब रति पुष्ट होती है, तब नित्यसिद्ध रसका उदय होता है। रस-परमानन्द स्वरूप है।

प्र॰—उपाधिगत तारतम्य कितने प्रकारके होते हैं?

उ॰—तीन प्रकारके होते हैं—(१) आच्छादित चेतन जीव, जैसे—वृक्ष आदि। (२) संकुचित चेतन—जीव; जैसे—पशु, पक्षी। (३) मुकुलित-चेतन जीव; जैसे—भक्तिशून्य मनुष्य।

प्र॰—मुक्त और बद्धके विचारसे जीव कितने प्रकारके हैं?

उ॰—तीन प्रकारके हैं—(१) नित्यमुक्त अर्थात् जड़से परे, (२) बद्धमुक्त अर्थात् जड़में हैं; परन्तु उसमें आबद्ध नहीं हैं; (३) नित्यबद्ध अर्थात् जड़में आबद्ध जीव।

प्र॰—इनमें से नित्यबद्ध कौन है?

उ॰—आच्छादित-चेतन, संकुचित-चेतन और मुकुलित-चेतन—ये तीनों प्रकारके जीव नित्यबद्ध हैं।

प्र॰—बद्धमुक्त जीव कितने प्रकारके हैं?

उ॰—दो प्रकारके हैं—(१) विकसित-चेतन अर्थात् साधन भक्त; और (२) पूर्ण-विकसित-चेतन अर्थात् भाव भक्त।

प्र॰—नित्यबद्ध और बद्धमुक्त जीव कहाँ रहते हैं?

उ॰—इस मायिक विश्वमें रहते हैं।

प्र॰—नित्य मुक्त जीव कहाँ रहते हैं?

उ॰—चिद्-जगतमें अर्थात् वैकुण्ठमें।

प्र॰—मुकुलित चेतन जीव कितने प्रकारके होते हैं?

उ॰—अनेक प्रकारके होते हें। तत्त्वलाघव प्रक्रिया द्वारा (मोटे तौर पर) उन्हें छह श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। छह विभाग ये हैं—

(१) असभ्य मूर्ख मानव; जैसे पुलिन्द, शबरादि।

(२) सभ्यता, जड़ाभिमान और शिल्प-विज्ञान आदिसे सम्पन्न मानव—जिनमें नीति और ईश्वर विश्वास नहीं होता; जैसे—म्लेच्छगण (डोम आदि)।

(३) निरीश्वर, किन्तु सुन्दर नीति-परायण मानव; जैसे—बौद्धादि।

(४) कल्पित-ईश्वरवाद-युक्त नीति-परायण मानव; जैसे कर्मवादी।

(५) ईश्वरको स्वीकार करके भी भक्तिरहित मानव।

(६) निर्विशेषवादको ग्रहण करनेवाले मानव; इनको ज्ञानकाण्डी कहते हैं।

प्र॰—इनमें किस प्रकारका तारतम्य वर्त्तमान है?

उ॰—आच्छादित चेतनसे लेकर मुकुलित चेतन तकके जीवोंका तारतम्य विचार भक्ति-तत्त्वकी उपयोगिताके तारतम्यके अनुसार होता है। विकसित चेतन और पूर्ण-विकसित चेतनका तारतम्य स्पष्ट ही है।

आठवाँ अध्याय

कृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही मोक्ष है

प्र॰—मोक्ष कितने प्रकारके होते हैं?

उ॰—लोग साधारणतः सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्यको मोक्ष कहते हैं। उनमें सायुज्य-निर्वाण और एकत्व रूप मोक्ष-चिन्ता निर्विशेषवादके अन्तर्गत एक भ्रम मात्र है। वैसा मोक्ष जीवोंके लिए चिन्तनीय नहीं है। ब्रह्मकी तरफसे विवेचन करने पर वैसी मुक्ति किसी प्रकारसे सिद्ध

तो होती है, किन्तु जीवोंके लिए उपयुक्त नहीं होती। जब युगपत् भेदाभेद ही सत्य प्रमाणित हो चुका है, तब भेद-नाशक केवल अभेदवाद स्थायी नहीं हो सकता है।

प्र॰—फिर यथार्थ मोक्ष किसको कहा जाय?

उ॰—विशुद्ध रूपमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आश्रय पाना ही मोक्ष है।

प्र॰—श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आश्रय-लाभको क्यों मोक्ष मानें?

उ॰—श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आश्रय-प्राप्ति और जड़ सम्बन्धसे छुटकारा एक ही साथ होता है। छुटकारा कार्य थोड़ा होने पर ही फल प्रदान करता हुआ पर्यवसित हो जाता है। श्रीकृष्णचरणामृत पान करनेका आनन्द ही नित्य फल है। अतएव मोक्ष और किसे कहें?

प्र॰—एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कीजिये।

उ॰—प्रदीपका जलना और अन्धकारका दूर होना—दोनों कार्य एक ही साथ होते हैं। अन्धकारका नाश होना—मोक्षस्थानीय तत्त्व है और प्रदीपका आलोक कृष्णचरणामृत-स्थानीय तत्त्व है। प्रदीपका आलोक—नित्य है और अन्धकारका-नाश-कार्य नित्य नहीं है, वह किसी एक समय होता है। आलोक-प्रकाश ही नित्य तत्त्व है।

नवाँ अध्याय

विमल कृष्णभजन ही मोक्ष-प्राप्तिका उपाय है

प्र॰—श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूप मोक्ष कैसे पाया जा सकता है?

उ॰—विमल कृष्णभजन द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिरूप मोक्ष पाया जा सकता है।

प्र॰—विमल कृष्णभजन किसे कहते हैं?

उ॰—मायाबद्ध जीव कृष्ण-साम्मुख्य लाभ करनेके लिए जो मलरहित अर्थात् विशुद्ध कृष्णभजन करता है, उसे विमल कृष्णभजन कहते हैं।

प्र॰—कृष्णभजनके मल क्या-क्या हैं?

उ॰—भोगकी वासना, निर्विशेष गति लाभ करनेकी वासना और सिद्धिकी वासना—ये तीनों भजनके मल हैं।

प्र॰—भोग-वासना किसे कहते हैं?

उ॰—ऐहिक इन्द्रिय-सुख-भोग, पारत्रिक स्वर्गादिक भोग और शुष्क वैराग्यगत शान्ति-सुख—यह तीन प्रकारकी भोग वासना है।

प्र॰—इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करनेसे, परलोकमें सुखजनक धर्मका त्याग करनेसे तथा वैराग्यका विसर्जन देनेसे शरीरकी रक्षा कैसे होगी? जगतका कल्याण किस प्रकार साधित होगा? और विषयासक्तिजन्य कष्ट दूर कैसे होगा?

उ॰—इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग नहीं करना होगा, जगत कल्याणकारी धर्मका त्याग नहीं करना होगा, तथा शान्ति जनक वैराग्यका भी अनादर नहीं करना होगा, बल्कि उन विषयोंमें भोगकी वासना और आसक्तिका त्याग करना होगा।

प्र॰—यह कैसे सम्भव है?

उ॰—जब तक वर्णाश्रम धर्मका पालन किया जाय, तब तक समस्त प्रकारके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक

कर्मोंका आचरण करते रहना चाहिए। इन कर्मोंको इस प्रकारसे करो कि उनसे तुम्हारी कृष्णभक्तिके साक्षात् अनुशीलनमें सहायता मिले। उन्हें इस प्रकारसे मत करो कि वे तुम्हारे कृष्णानुशीलनमें बाधक हों। जो कुछ भी अवसर मिले, उसमें हर समय साक्षात् अनुशीलनके कार्यों द्वारा भक्ति-वृत्तिको पुष्ट करते रहो, ऐसा होनेसे कर्म, धर्म और वैराग्य एक साथ मिलकर तुम्हारी परमोन्नतिके साधक होंगे।

प्र॰—जब समस्त जड़ीय कर्म ही चित् तत्त्वसे विलक्षण होते हैं, तब इनके द्वारा चित् स्वभावकी पुष्टि कैसे सम्भव है?

उ॰—समस्त विषयोंमें, समस्त ज्ञानोंमें तथा समस्त विषय-सम्बधोंमें कृष्ण-भक्तिके भावको युक्त करो। श्रीविग्रह सेवामें समस्त इन्द्रियोंको लगा दो; कृष्णप्रसाद-सेवन, कृष्णका गुणानुकीर्त्तन, श्रीकृष्णचरणोंमें अर्पित तुलसी और चन्दन सूंघना, श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्त्तन, कृष्ण सम्बन्धी वस्तु या व्यक्तिका स्पर्श और कृष्ण-दर्शन आदि क्रियाओंके द्वारा अपनी कृष्णानुरक्तिको उद्दीपित करो। धीरे-धीरे तुम्हारे समस्त कर्म कृष्णको अर्पित होने पर वे भावोदयके पथमें बाधक न होकर सहायक हो पड़ेंगे।

प्र॰—यदि शरीरकी रक्षाके लिए कुछ कर्म भी करता जाऊँ और साथ ही वासनाओंकी निवृत्ति भी करता रहूँ तो ज्ञान-समाधि द्वारा कृष्ण-भक्ति उत्तम रूपमें साधित हो सकती है या नहीं?

उ॰—नहीं। चित्तगत राग इन्द्रियोंके विषयोंसे सम्बन्धित होता है। यम, नियम और प्रत्याहार आदिके द्वारा इन्द्रियोंको

विषयोंसे निवृत्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि रागको जब तक जड़ विषयोंसे अधिक रमणीय कोई दूसरी वस्तु न दिखलायी जाय, तब तक वह पूर्व विषयोंको छोड़ नहीं सकता। इसलिए यदि रागके प्रवाहके आगे कोई उत्तम विषय रखा जाय, तो राग उस उत्तम विषयका अवलम्बन कर तदगत हो पड़ता है और पूर्व विषयको सहज ही छोड़ देता है। अतः पहले जिस प्रणालीको बतलाया गया है, वही विमल कृष्णभजन है।

प्र॰—समल (अशुद्ध) कृष्णभजन किसे कहते हैं?

उ॰—कर्मके प्रति आग्रह, योगकी चेष्टा और निर्विशेष मुक्तिकी कामनासे युक्त होकर जो कृष्णभजन होता है, उसे समल कृष्णभजन कहते हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णचरणामृत लाभरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

प्र॰—विमल कृष्ण-भजनकी विधि संक्षेपमें बतलाइये।

उ॰—शरीर और संसार यात्रा निर्वाहके लिए निष्पाप और न्याय-संगत जो भी कार्य करो, उसे कृष्ण-भक्तिमें सहायक—गौणी भक्तिके रूपमें करो। जब भी अवसर मिले, कृष्णका साक्षात् अनुशीलन करो।

प्र॰—साक्षात् अनुशीलन कितने प्रकारके हैं और कौन-कौनसे हैं?

उ॰—नौ प्रकारके हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्त्तन, (३) कृष्ण-स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन।

प्र॰—इन अनुशीलनोंका क्या फल होता है?

उ॰—भावोदय और अन्तमें प्रेमोदय होता है।

प्र॰—प्रेम क्या है?

उ॰—उसे वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है; वह चिन्मय रस है; अतएव आस्वादनके द्वारा अनुभव करनेका प्रयत्न करो।

प्र॰—साधनकालमें किन-किन विषयोंमें सतर्क रहनेकी आवश्यकता है?

उ॰—विकर्म, अकर्म, कर्म-जड़ता, शुष्क-वैराग्य, शुष्क ज्ञान और अपराधसे सतर्क रहना आवश्यक है।

प्र॰—विकर्म कितने प्रकारके होते हैं और कौन-कौनसे?

उ॰—विकर्म अनेक प्रकारके होते हैं। कुछ प्रबल पाप ये हैं—(१) द्वेष, (२) निष्ठुरता, (३) क्रूरता, (४) जीव-हिंसा, (५) पर-स्त्री-लोभ, (६) क्रोध, (७) पर-द्रव्यमें लोभ, (८) स्वार्थपरता, (९) मिथ्या, (१०) अवज्ञा, (११) गर्व, (१२) चित्तविभ्रम, (१३) अपवित्रता, (१४) जगत-नाश कार्य, (१५) दूसरोंका अपकार।

प्र॰—अकर्म कौन-कौनसे हैं?

उ॰—नास्तिकता, अकृतज्ञता और महत् पुरुषोंकी सेवाका अभाव।

प्र॰—कर्म किसे कहते हैं?

उ॰—पुण्य-कर्मोंको कर्म कहते हैं; पुण्य-कर्म अनेक प्रकारके होते हैं, जिनमें प्रधान-प्रधान ये हैं—(१) परोपकार, (२) गुरुजनोंकी सेवा, (३) दान, (४) जगद्वृद्धि, (५) सत्य, (६) पवित्रता, (७) सरलता, (८) क्षमा, (९) दया, (१०)

अधिकारके अनुकूल कर्म, (११) युक्त वैराग्य, (१३) अपक्षपातित्त्व।

प्र॰—कर्म-जड़ता किसे कहते हैं?

उ॰—पुण्य कर्मोंके द्वारा जो जड़ीय अर्थ या सुख प्राप्त होता है, उसे 'बहुत है' मानकर चिद् उन्नतिके प्रयत्नसे विमुख होना ही कर्म जड़ता है।

प्र॰—शुष्क-वैराग्य किसे कहते हैं?

उ॰—चेष्टा करके या अभ्यासके द्वारा जो वैराग्य होता है, उसे शुष्क या फल्गु वैराग्य कहते हैं; भक्ति वृद्धि होने पर जो वैराग्य अपने-आप स्वयं उपस्थित होता है, उसे युक्त वैराग्य कहते हैं।

प्र॰—शुष्क-ज्ञान किसे कहते हैं?

उ॰—जो ज्ञान चित्-तत्त्वसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे शुष्क ज्ञान कहते हैं।

प्र॰—अपराध कितने प्रकारके होते हैं?

उ॰—दो प्रकारके—सेवापराध और नामापराध।

प्र॰—भजन विशुद्ध कैसे होता है?

उ॰—अनासक्त भावसे संसारमें रहते हुए शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर सत्सङ्गमें श्रवण और कीर्त्तन करनेसे भजन विशुद्ध या विमल होता है।

दसवाँ अध्याय

शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान—तीन प्रमाण हैं

प्र॰—प्रमाण किसे कहते हैं?

उ॰—जिसके द्वारा सत्यका निरूपण किया जाता है।

प्र॰—प्रमाण कितने हैं?

उ॰—तीन प्रकारके हैं।

प्र॰—कौन-कौन?

उ॰—शब्द, प्रत्यक्ष और अनुमान।

प्र॰—शब्द-प्रमाण किसे कहते हैं?

उ॰—स्वतःसिद्ध ज्ञानावतार-स्वरूप अखिल वेद ही शब्द-प्रमाण हैं। शब्द-प्रमाण—सर्वोत्तम है। क्योंकि इस प्रमाणके बिना प्रकृतिसे अतीत तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती।

प्र॰—क्या प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा ईश्वर और परलोक लक्षित नहीं होते?

उ॰—इन्द्रियों द्वारा अनुभूत समस्त प्रकारके ज्ञान—प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रत्यक्षको देखकर अनुमित ज्ञानको अनुमान—प्रमाण कहते हैं। ये दोनों प्रमाण केवल सांसारिक ज्ञान ही प्रदान कर सकते हैं।

प्र॰—ऐसा होनेसे परमार्थ-तत्त्वके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष और अनुमानको क्यों स्वीकार किया जाता है?

उ॰—शब्द-प्रमाण द्वारा जो कुछ उपलब्ध होता है, उसकी सिद्धिकार्यमें प्रत्यक्ष और अनुमान कुछ सीमा तक कार्य करते हैं। इसलिए जब ये शब्द-प्रमाणके अधीन रहकर कार्य करते हैं, तब उन्हें प्रमाण कोटिमें ग्रहण किया जाता है।

द्वितीय पुष्प

हरिनाम

भव-समुद्र बड़ा ही दुस्तर है। परमेश्वरकी कृपा बिना इसको पार करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। जीव जड़से श्रेष्ठ होने पर भी स्वभावतः दुर्बल और पराधीन है। भगवान् ही जीवोंके एकमात्र रक्षक, पालक और त्राता हैं। जीव अणुचैतन्य हैं, अतएव वे परम चैतन्य भगवान्के अधीन और सेवक हैं। परम चैतन्य परमेश्वर ही जीवोंके आश्रय हैं। यह जड़-जगत माया द्वारा रचित है। इस जड़-जगतमें जीवोंकी स्थिति ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार अपराधी व्यक्ति कारागारमें होता है। भगवान्से विमुख होनेके कारण जीव मायाके संसारमें चक्कर काट रहे हैं। भगवत्-विमुख जीवोंको बद्ध जीव कहते हैं; क्योंकि वे माया द्वारा बँधे हुए होते हैं। इसके विपरीत जो जीव भगवान्के अनुगत होते हैं, वे मायासे मुक्त होते हैं। ऐसे जीवोंको मुक्त जीव कहते हैं। इस प्रकार अवस्था भेदसे अनन्त जीव दो भागोंमें विभक्त हैं—बद्ध जीव और मुक्त जीव।

बद्ध जीव साधन द्वारा भगवान्की कृपा प्राप्त कर, मायाकी सुदृढ़ रज्जुको तोड़नेमें समर्थ होते हैं। हमारे महामहिम महर्षियोंने अनेक छानबीनके पश्चात् तीन प्रकारके साधन स्थिर किये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

वर्णाश्रम धर्म, यज्ञ, तपस्या, दान, व्रत, योग—इनको शास्त्रोंमें कर्माङ्ग कहा गया है। इन विभिन्न कर्मोंके भिन्न-भिन्न फल भी उन शास्त्रोंमें कहे गये हैं। उन फलोंका पृथक्-पृथक् विचार करने पर पता चलता है कि स्वर्ग भोग, मृत्युलोकका भोग, रोग-शान्ति तथा उच्च कर्म करनेके सुअवसरकी प्राप्ति—ये ही उनके प्रधान फल हैं। इनमें से उच्च कर्म करनेके सुअवसरकी प्राप्तिरूप फलको पृथक् कर देने पर शेषसमस्त प्रकारके फल ही मायिक प्रतीत होते हैं। स्वर्ग-भोग, मर्त्यसुख-भोग, ऐश्वर्य आदि फल—जिन्हें जीव कर्म द्वारा प्राप्त करते हैं—सभी नश्वर हैं। ये सभी भगवान्‌के कालचक्रमें पड़कर विनष्ट हो जाते हैं। इन फलोंके द्वारा मायाका बन्धन खुलना तो दूर रहे, उससे और भी अधिक रूपमें कर्म वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो माया बन्धनको और भी अधिक सुदृढ़ कर देती हैं। उच्च कर्मका सुयोग रूप फल भी निरर्थक ही होता है यदि उच्च कर्म वास्तवमें न किये जाँय। श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहते हैं—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसा विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

वर्णाश्रम धर्मका मूल तात्पर्य यह है कि स्वभावके अनुसार सांसारिक और शारीरिक कर्मोंके विभाग द्वारा मनुष्य सहजसे सहज रूपमें संसार और शरीर-यात्राका निर्वाह कर सके। ऐसा होने पर हरिकथाके अनुशीलनके लिए पर्याप्त समय मिलेगा। यदि कोई मनुष्य वर्णाश्रम धर्मका उत्तम रूपसे पालन तो करता है, परन्तु हरिकथामें उसकी

रुचि नहीं होती, तो उसका सारा धर्मानुष्ठान व्यर्थका परिश्रम ही हो जाता है। कर्म द्वारा निश्चित रूपमें भव-समुद्रको पार किया जा सकता—इसे मैंने संक्षेपमें बतलाया।

ज्ञानको भी उच्च गति प्राप्त करनेमें साधन बतलाया गया है। ज्ञानका फल आत्मशुद्धि है। आत्मा जड़ातीत वस्तु है; परन्तु इस तत्त्वको भूलकर जीव जड़ाश्रित होकर कर्ममार्गमें भटक रहा है। ज्ञान-चर्चा द्वारा यह जाना जाता है कि मैं जड़ नहीं—चिद्-वस्तु हूँ। ऐसा ज्ञान स्वभावतः 'नैष्कर्म्य' कहलाता है। इसका कारण यह है कि इसमें चिद्-वस्तुका कुछ-कुछ ज्ञान रहने पर भी चिद्-वस्तुका नित्य धर्म—जो चिदास्वादन है, प्रारम्भ नहीं होता। इस अवस्थाको प्राप्त हुए जीव आत्माराम कहलाते हैं। परन्तु जब चिदास्वादन रूप चित्क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तब नैष्कर्म्य नहीं रहता। इसलिए देवर्षि नारदजीने कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।

अर्थात् नैष्कर्म्य रूप निर्मल ज्ञान भी भगवान्की भक्तिसे स्निग्ध न होने पर नितान्त उपेक्षणीय होता है।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

परम चैतन्य हरिमें एक ऐसा असाधारण गुण है, जो समस्त जड़मुक्त आत्माराम जीवोंको भी आकर्षण कर अपनी भक्तिमें लगा देता है।

अतएव कर्म उच्च कर्मका सुअवसर प्रदान कर और ज्ञान अपना नैष्कर्म्य स्वरूप परित्याग कर जब भक्ति साधन करानेमें नियुक्त होते हैं, तभी कर्म और ज्ञानको साधन-अङ्ग कहा जा सकता है। वे स्वयं साधनके अङ्गके रूपमें स्वीकृत नहीं हैं। इसलिए केवल भक्तिको ही साधन कहा गया है। कर्म और ज्ञान भक्तिके अधीन होने पर कहीं-कहीं साधनके रूपमें माने गये हैं, परन्तु भक्ति तो स्वभावतः ही साधन-स्वरूप है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका निर्णय स्पष्ट है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

हे उद्धव! कर्मयोग, सांख्ययोग, वर्णाश्रम धर्म, वेद-पाठ, तपस्या या वैराग्य मुझे प्रसन्न नहीं कर पाते, केवल मात्र तीव्र भक्ति ही मुझे प्रसन्न करनेमें समर्थ है।

भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए भक्तिके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है। साधन भक्ति नौ प्रकारकी होती है—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आात्मनिवेदन। इनमें से श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण—ये तीन प्रधान साधनाङ्ग हैं। भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीला—इन चारों विषयोंका ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण होता है। इनमें भी श्रीनाम ही आदि और सर्व बीज-स्वरूप हैं। अतएव हरिनाम ही सब प्रकारकी उपासनाओंका मूल है। शास्त्रोंमें कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलिकालमें हरिनामके अतिरिक्त जीवोंकी दूसरी गति नहीं है। 'कलिकाल' शब्द द्वारा यह समझना होगा कि सभी समयोंमें हरिनामके बिना जीवोंकी गति नहीं है। विशेषरूपसे कलियुगमें दूसरे-दूसरे मन्त्रादि साधन दुर्बल होनेके कारण केवल हरिनामका ही अवलम्बन करना उचित है, क्योंकि हरिनाम सबसे बढ़कर वीर्यशाली है।

हरिनामके सम्बन्धमें पद्म-पुराणमें इस प्रकार लिखा गया है—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

श्रीजीव गोस्वामी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

एकमेव सच्चिदानन्द-रसादिरूपं तत्त्वं द्विधाविर्भूतमित्यर्थः।

श्रीकृष्णतत्त्व अद्वय सच्चिदानन्द स्वरूप है। उनका दो रूपोंमें आविर्भाव होता है—(१) नामीके रूपमें श्रीकृष्णविग्रह तथा (२) नामके रूपमें श्रीकृष्णनाम। इसका मूल तत्त्व यह है कि श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं। शक्तिमान जो पुरुष हैं, उनके समस्त प्रकाश ही उनकी शक्तिके प्रकाश हैं। शक्ति ही अपने आधार रूप पुरुषको दूसरेके निकट प्रकाश करती है। शक्तिके दर्शन प्रभाव द्वारा कृष्णरूप प्रकाशित होता है और आह्वय प्रभाव द्वारा कृष्णनाम विज्ञापित होता है। अतएव कृष्णनाम चिन्तामणि-स्वरूप कृष्ण-स्वरूप और चैतन्य-रस विग्रह स्वरूप हैं। नाम सर्वदा पूर्णस्वरूप हैं,

अर्थात् उनमें विभक्तियोंके योगसे "कृष्णाय, नारायणाय" इत्यादि मन्त्रादि निर्माणकी अपेक्षा नहीं होती। कृष्णनाम उच्चारित होते ही चित्तत्त्वमें कृष्णरस अकस्मात् उदित हो पड़ता है। नाम सदा विशुद्ध होते हैं, अर्थात् वे जड़ीय अक्षरोंकी भाँति जड़ाश्रय नहीं होते। नाम केवल चैतन्य रसमात्र हैं। नाम सदा मुक्त होते हैं, अतएव नित्यमुक्त हैं, वे कभी भी जड़से पैदा नहीं होते। जिन्होंने नाम-रसका पान किया है, वे ही केवल इस व्याख्याको समझनेमें समर्थ हो सकते हैं। जो नाममें जड़त्वकी कल्पना करते हैं, स्वयं चैतन्यरसास्वादन करनेमें असमर्थ हैं, वे इस व्याख्यासे सन्तुष्ट नहीं हो सकते हैं। यदि यह कहो कि हम निरन्तर जो नाम-उच्चारण करते हैं, वह जड़ीय अक्षरोंको आश्रय करके हुआ करता है; ऐसी दशामें नामको जड़से उत्पन्न वस्तु कहा जायेगा, उसे नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता है? इस बहिर्मुख तर्कके उत्तरमें श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

प्राकृत वस्तु ही प्राकृत इन्द्रिय-ग्राह्य होती है। कृष्णनाम अप्राकृत हैं। अतएव वे कदापि प्राकृत इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। तब जो नाम जिह्वासे प्रकाशित होता है, वह केवल आत्माके अप्राकृत आनन्दकी तदुपयोगी इन्द्रियमें स्फूर्त्तिमात्र है। भक्त जिस समय आत्माकी अप्राकृत रसनासे कृष्णनाम उच्चारण करते हैं, उस समय वह उच्चरित परम तत्त्व प्राकृत रसना पर आविर्भूत होकर नृत्य करने लगता है। आनन्दसे हास्य,

स्नेहसे क्रन्दन, प्रीतिसे नृत्य जिस प्रकार अप्राकृत रसकी इन्द्रिय तक व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णनाम-रसकी रसना तक व्याप्ति होती है। प्राकृत रसनासे कृष्ण नाम उत्पन्न नहीं होता। साधन कालमें जिस नामका अभ्यास किया जाता है, वह यथार्थ नाम नहीं है। उसे छाया नाम अथवा नामाभास कहा जा सकता है। नामाभास करते-करते क्रमोन्नति द्वारा बहुधा अप्राकृत नाममें रुचि होती देखी गयी है। वाल्मीकि और अजामिलके जीवन-चरित्र इस विषयमें ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

जीवकी नाममें रुचि न होनेका कारण अपराध है। जो अपराध रहित होकर कृष्णनाम ग्रहण करते हैं, उनके हृदयमें चैतन्यरस-विग्रहरूप अप्राकृत श्रीहरि-नामका उदय होता है। अप्राकृत नामका उदय होने पर हृदय प्रफुल्लित हो उठता है, नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है तथा शरीरमें सात्त्विक विकार पैदा होने लगते हैं। अतएव श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

तदश्मसारं हृदयं वतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष॥

जीव जिस समय हरिनाम ग्रहण करते हैं, उस समय उनका हृदय निश्चितरूपसे द्रवित होगा, आँखोंसे निश्चय ही अश्रुधारा प्रवाहित होगी तथा शरीरमें अवश्य ही रोमाञ्च होगा। जो कृष्णनाम उच्चारण तो करते हैं, परन्तु उनमें ऐसे विकार लक्षित नहीं होते, उनका हृदय अपराधके कारण अतिशय कठोर हो चुका है—ऐसा समझना चाहिए।

निरपराध होकर हरिनाम लेना साधकका नितान्त कर्त्तव्य है। अतएव अपराध न हो जाय, इसके लिए अपराध कितने प्रकारके हैं, इसका ज्ञान भी होना चाहिए।

शास्त्रमें हरिनामके सम्बन्धमें दस प्रकारके अपराधोंका उल्लेख है—(१) साधु-निन्दा, (२) शिव आदि देवताओंको भगवानसे पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मानना, (३) गुरुकी अवज्ञा करना, (४) वेदादि सत्-शास्त्रोंकी निन्दा करना (५) हरिनामके माहात्म्यको केवलमात्र प्रशंसा समझना, (६) हरिनाममें अर्थ कल्पना अर्थात् कृष्ण, राम आदि नाम कल्पित हैं, ऐसी धारणा रखना, (७) नामके बल पर पाप करना, (८) दूसरे-दूसरे शुभ कर्मोंके साथ हरिनामको समान समझना, (९) अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनामका उपदेश करना, (१०) नामका माहात्म्य श्रवण करके भी उसके प्रति अविश्वास रखना।

साधु-भक्तोंके प्रति अश्रद्धा प्रकाश करनेसे तथा साधु-चरित्र महाजनोंकी निन्दा करनेसे हरिनामके प्रति अपराध होता है। अतएव जो हरिनामका आश्रय करेंगे, उनको सर्वप्रथम वैष्णव अवज्ञाकी प्रवृत्तिको सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिए। वैष्णवोंके कार्योंके प्रति सन्देह होने पर साथ-ही-साथ निन्दा न करके उसका तात्पर्य अनुसन्धान करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। अतएव साधुओंके प्रति श्रद्धा करना ही कर्त्तव्य है।

शिव आदि देवताओंको भगवान्से पृथक् समझना नामापराध कहा गया है। भगवत्-तत्त्व एक और अद्वितीय है। शिव आदि देवताओंकी भगवान्से पृथक् स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं

है। शिव आदि देवताओंको भगवान्‌का गुणावतार अथवा भगवद् भक्त मानकर सम्मान करनेसे भेद ज्ञान नहीं रहता। जो लोग महादेवको एक पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र देवता मानकर शिव और विष्णुकी पूजा करते हैं, वे महादेव-देवकी भगवत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। इससे वे विष्णु और शिव दोनोंके प्रति अपराधी हो पड़ते हैं। जो हरिनाम करते हैं, उनको इस प्रकारके भेद ज्ञानका भली प्रकार त्याग करना चाहिए।

गुरुदेवकी अवज्ञा करना एक नामापराध है। जो नाम तत्त्वकी सर्वोत्तमताकी शिक्षा देते हैं, उनको आचार्यरूपी भगवत्-प्रेष्ठ समझना चाहिए। उनके प्रति दृढ़ भक्ति करके हरिनाममें अचला श्रद्धा प्राप्त करनी चाहिए।

सत्‌शास्त्रोंकी कदापि निन्दा नहीं करनी चाहिए। वेदादि शास्त्रोंमें भागवत् धर्मका वर्णन है—श्रीनामका बहुत ही माहात्म्य बतलाया गया है। उन शास्त्रोंकी निन्दा करनेसे हरिनामापराध होता है। वेद आदि शास्त्रोंमें सर्वत्र ही हरिनामका माहात्म्य बतलाया गया है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

इस प्रकारके सत्‌शास्त्रोंकी निन्दा करनेसे हरिनाममें किस प्रकार प्रीति हो सकती है?

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि वेदादि शास्त्रोंमें हरिनामका जो माहात्म्य वर्णन किया गया है, वह केवल नामकी प्रशंसा मात्र है। जिनकी ऐसी धारणा है, वे नामापराधी हैं। ऐसे

लोग हरिनाम करके भी हरिनामका वास्तविक फल प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे लोग यह समझते हैं कि जिस प्रकार कर्मकाण्डमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए कर्मकाण्डकी बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा बतलायी गयी है, उसी प्रकार शास्त्रमें हरिनामकी भी बढ़ा-चढ़ा कर फल-श्रुति दी गयी है। ऐसा समझनेवाले बड़े दुर्भागे हैं। इसके विपरीत भाग्यवान व्यक्तियोंका विश्वास इस प्रकार होता है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥

संसारसे निर्वेद प्राप्त, सब प्रकारके भयोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा रखनेवाले योगीके लिए हरिनाम-कीर्त्तन ही एकमात्र कर्तव्य है। ऐसा विश्वास करनेवाले व्यक्ति ही हरिनामका वास्तविक फल प्राप्त करते हैं।

नामाभास और नामका भेद नहीं समझकर कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि नाम अक्षरमय है। अतएव श्रद्धा नहीं रहने पर भी नाम लेनेसे फल होगा ही। वे लोग अजामिलका दृष्टान्त देते हैं "सांकेत्यं पारिहास्यं वा" आदि शास्त्र-वचनोंका उदाहरण प्रस्तुत करते है। यह बात तो पहले ही बतलायी जा चुकी है कि हरिनाम चैतन्य-रस-विग्रह है तथा प्राकृत इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। अतएव निरपराध होकर नामाश्रय नहीं करनेसे नामका फलोद्वय सम्भव नहीं है। जो अश्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करते हैं, उनको नामका फलोद्वय सम्भव नहीं होता। अश्रद्धालु व्यक्तियोंके नामोच्चारणका फल यह होता है कि कुछ दिनोंमें उनकी नामके प्रति श्रद्धा पैदा हो सकती है।

इसलिए अश्रद्धापूर्वक अर्थवाद करके नामको जड़ात्मक अक्षररूपमें जो कर्मकाण्डका अङ्ग समझते हैं अथवा ऐसा ही प्रचार करते हैं, वे नितान्त बहिर्मुख और नामापराधी हैं। वैष्णवजन इस अपराधका यत्नपूर्वक परित्याग करेंगे।

कुछ लोग हरिनामाश्रय करके ऐसा समझते हैं कि हमने अब समस्त प्रकारके पापोंके लिए एक सस्ती औषधि प्राप्त कर ली है। इस विश्वासके साथ वे ठगी, राहजनी, डकैती, चोरी या बदमाशी आदि पाप कर्मोंको करके फिर हरिनाम कर लेंगे, जिससे उनके सारे पाप कट जायेंगे—ऐसा समझने वाले व्यक्ति नामापराधी हैं। जो लोग नामाश्रय करते हैं, वे एक बार चिद्-रसका आस्वादनकर फिर कभी भी जड़ीय असत् वस्तुओंमें आसक्त नहीं होते।

कुछ लोगोंका ख्याल ऐसा होता है कि यज्ञ आदि कर्म, दानादि धर्म तथा तीर्थ-यात्राकी चेष्टाएँ—ये सब जिस प्रकार शुभकर हैं, नाम भी वैसी ही कोई शुभ चीज है। ऐसे व्यक्ति नामापराधी हैं। नाम सदा चिद्-रसस्वरूप हैं। अन्यान्य सारे सत्कर्म ही जड़मय हैं। अतएव वे नामके विजातीय हैं। जो लोग इन क्रियाओं या सत्कर्मोंको नामके समान समझते हैं, वे वास्तवमें नामरसका आस्वादन नहीं कर सके हैं। जिस प्रकार हीरा और काँचमें भेद है, ठीक उसी प्रकार हरिनाम और दूसरे-दूसरे शुभ कर्मोंमें वस्तुगत भेद हैं।

अश्रद्धालु व्यक्तियोंको हरिनामका उपदेश या मन्त्र देनेवाले व्यक्ति नामापराधी हैं। जिस प्रकार शूकरको मुक्ताफल देनेसे कुछ लाभ नहीं होता, उल्टे मुक्ताफलका ही अपमान या अवज्ञा करना होता है, उसी प्रकार जिन लोगोंमें हरिनामके

प्रति उपयुक्त श्रद्धाका अभाव है, उनको नामोपदेश करना नितान्त अन्याय है। ऐसे लोगोंको हरिनामके प्रति किस प्रकारसे श्रद्धा हो, इसके लिए प्रयत्न करना उचित है। श्रद्धा होनेके बाद नामोपदेश करना उचित है। जो लोग अपनेको गुरु अभिमान कर अपात्रको भी हरिनामका उपदेश करते हैं, वे नामापराधके कारण अधःपतित हो जाते हैं।

हरिनामका माहात्म्य श्रवण करके भी जो नामके प्रति ऐकान्तिक श्रद्धा न करके अन्यान्य साधनोंका—कर्म, ज्ञान या योगका आश्रय त्याग नहीं करते, वे भी नामापराधी हैं।

इस प्रकार नामापराध वर्जन नहीं करनेसे हरिनाम उदित नहीं होते। कलियुग-पावनावतारी श्रीचैतन्यमहाप्रभुने संसारी जीवोंके नाना-प्रकारके दुःखोंको देखकर दयार्द्र-चित्त होकर ऐसा उपदेश किया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

तृणसे भी अपनेको तुच्छ मानकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं अभिमानशून्य और दूसरोंको मान देनेवाला बनकर जीव हरिनाम-संकीर्त्तनमें अधिकार प्राप्त करता है। व्यवहार-शुद्धिके साथ हरिनाम ग्रहण करनेकी व्यवस्था ही इस वाणीका मुख्य तात्पर्य है। जो अपनेको सबसे अधिक दीन-हीन समझते हैं, वे कभी भी साधुकी निन्दा नहीं कर सकते, शिव आदि देवताओंकी भेद-बुद्धि द्वारा अवज्ञा नहीं करते, श्रीगुरुदेवके प्रति कदापि अवज्ञा नहीं करते, सत्शास्त्रोंकी निन्दा नहीं करते तथा हरिनामके

माहात्म्यको सत्य मानते हैं। वे शुष्क ज्ञानजात तर्क द्वारा 'हरि' शब्दमें निर्गुण-ब्रह्मवादकी कल्पना नहीं करते, नामके बल पर पाप-कर्म नहीं करते, दूसरे सत्कर्मोंके साथ हरि-नामको समान नहीं मानते, अश्रद्धालु व्यक्तियोंको हरिनाम नहीं देते तथा नामके प्रति तनिक भी अविश्वास नहीं रखते। वे स्वभावतः दस प्रकारके नामापराधोंसे दूर रहनेकी चेष्टा करते हैं। कोई उनका उपहास करने पर अथवा कोई उनका अहित करने पर भी वे उसका उपकार ही करते हैं। वे जगतका समस्त कार्य करने पर भी स्वयं अपनेमें भोक्ता या कर्त्ताका अभिमान नहीं रखते। वे अपनेको जगतका दास मानकर जगतकी सेवामें ही लगे रहते हैं।

ऐसे अधिकारी व्यक्तिके मुखसे जब हरिनाम उच्चरित होता है, तब अन्तःस्थित चिज्जगतसे बिजलीकी भाँति चित्‌ज्योति व्याप्त होकर जगतके जीवोंके माया विकार रूप अन्धकारको दूर कर देती है। अतएव, महात्माओं! अपराध रहित होकर निरन्तर हरिनामका कीर्त्तन कीजिये। हरिनामके बिना जीवोंके लिए और कोई भी दूसरा सहारा नहीं है। इस दुस्तर भव-समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिए ज्ञान या कर्म आदिका सहारा लेना केवल तृणका सहारा लेकर महासागरको पार करनेकी इच्छाकी भाँति सर्वथा निरर्थक है। हरिनाम रूप महापोत (बड़े जहाज)का अवलम्बन कर इस दुस्तर भवसमुद्रको पार कीजिये।

तदश्मसारं हृदयं वतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष॥

जीव जिस समय हरिनाम ग्रहण करते हैं, उस समय उनका हृदय निश्चितरूपसे द्रवित होगा, आँखोंसे निश्चय ही अश्रुधारा प्रवाहित होगी तथा शरीरमें अवश्य ही रोमाञ्च होगा। जो कृष्णनाम उच्चारण तो करते हैं, परन्तु उनमें ऐसे विकार लक्षित नहीं होते, उनका हृदय अपराधके कारण अतिशय कठोर हो चुका है—ऐसा समझना चाहिए।